



श्री अरविन्द का शिक्षा दर्शन

हनुमान प्रसाद अेन. पारीक

आसिस्टेन्ट प्रोफेसर

कॉलेज ओफ एज्युकेशन, वडस्मा,

तालुका व जिला – महेसाना, गुजरात

सारांश

श्री अरविन्द को भारत का एक महान शिक्षाविद् माना जाता है । श्री अरविन्द के जीवन दर्शन पर वेद, उपनिषद् एवं गीता का प्रमुख प्रभाव रहा । राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के विषय पर श्री अरविन्द ने अपने विचार रखे । पाण्डेचेरी में इन्होंने “अरविन्द आश्रम” की स्थापना की । इस आश्रम में इन्होंने अपने दर्शन के अनुसार शिक्षा के स्वरूप को एक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया । श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा बालक में अन्तर्निहित को खोजने एवं विकसित करने की स्वाभाविक प्रक्रिया है। श्री अरविन्द के अनुसार कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता, बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति के अनुसार होनी चाहिए । श्री अरविन्द ने शारीरिक शिक्षा, मन की शिक्षा एवं आध्यात्मिक शिक्षा के बारे में विचार प्रकट किए।

श्री अरविन्द के प्रमुख क्षेत्र दर्शन एवं अध्यात्म रहे । 1905 से 1915 तक राजनीति के क्षेत्र में कार्य करने के बाद श्री अरविन्द अपने मुख्य क्षेत्र अध्यात्म में चले गए । पाण्डेचेरी में श्री अरविन्दने अरविन्द आश्रम की स्थापना की । इस आश्रम में इन्होंने अपने दर्शन के अनुसार “शिक्षा” के स्वरूप को एक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया । अब इस शिक्षा संस्थान को विश्वविद्यालय का दर्जा प्राप्त है और श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा का यह मूर्त उदाहरण है। इस तरह श्री अरविन्द ने न केवल शिक्षा के क्षेत्र में सैद्धांतिक योगदान दिया अपितु उसका व्यावहारिक नमूना भी देश के सामने प्रस्तुत किया।

१. शिक्षा का अर्थ

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा बालक में अन्तर्निहित को खोजने एवं विकसित करने की वह स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसमें बालक का विकास उसकी प्रकृति के अनुसार किया जाता है । बालक स्वयं सीखता है, विकास करता है । इस परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया है। बालक का विकास उसकी प्रकृति के अनुसार ही होना चाहिए। शिक्षक का कार्य थोपना नहीं, सुझाव देना या मार्गदर्शन करना है।

२. शिक्षा के सिद्धांत

२.१ कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा का पहला सिद्धांत है कि कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता। अध्यापक कोई निर्देशक या काम लेने वाला स्वामी नहीं है, वह एक सहायक एवं मार्ग प्रदर्शक है। उसका काम सुझाव देना है थोपना नहीं। वह सचमुच विद्यार्थी के मानस को प्रशिक्षित नहीं करता। वह उसे केवल यह बतलाता है कि अपने ज्ञान के उकरणों को कैसे पूर्ण बनाया जाय और वह उसे इस कार्य में सहायता देता और प्रोत्साहित करता है। वह उसे ज्ञान नहीं देता अपितु उसे यह बतलाता है कि अपने लिये ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय। वह अंदर स्थित ज्ञान को प्रकट नहीं करता, केवल यह दिखलाता है कि वह कहाँ स्थित है और उसे बाह्य स्तर पर आने के लिये कैसे अम्यस्त किया जा सकता है।

२.२ बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति के अनुसार होनी चाहिये

बालक के मन के विकास में स्वयं उसकी सलाह ली जाये। बच्चे को हथौड़ी मार-मारकर माता-पिता या अध्यापक के चाहे रूप में गढ़ना एक अज्ञानपूर्ण और बर्बर अन्धविश्वास है। उसे यह प्रेरणा देनी चाहिए कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपना विस्तार करे। माता-पिता के लिए इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि वे पहले से ही यह मान ले कि उनका पुत्र या पुत्री अमुक गुण, अमुक क्षमताएँ विचार या विशेषताएँ विकसित करेगा या उसे पहले से ही निश्चित अमुक प्रकार की जीविका के लिये तैयार किया जाय। यह मानव आत्मा पर स्वार्थपूर्ण अत्याचार है। राष्ट्र पर एक आघात है, जिसके कारण वह मनुष्य के सर्वोत्तम कार्य के लाभ से वंचित हो जाता है और उसके बदले अपूर्ण, कुत्रिम, और सामान्य वस्तु स्वीकार करने के लिए बाधित होता है। प्रत्येक में कुछ दिव्य अंश होता है, कुछ ऐसा जो उसका अपना होता है। मुख्य काम है खोजना, विकसित करना और उसका उपयोग करना।

२.३ निकट से दूर की ओर, वर्तमान से भविष्य की ओर चलना

श्री अरविन्द के अनुसार निकट से दूर की ओर काम करते चलना, जो है उससे जो होगा उसकी ओर जाना। प्रायः सदा ही मनुष्य के स्वभाव का आधार उसकी आत्मा के अतीत के अतिरिक्त बहुत-सी वस्तुओं पर निर्भर होता है, जैसे – उसकी आनुवंशिकता, उसका पास पड़ोस, उसकी राष्ट्रीयता, उसका देश, वह धरती जहाँ से वह आहार पाता है, वह हवा जिसमें वह सांस लेता है, वे दृश्य, वे आवाजे और वे आदते जिसके लिये वह अम्यस्त है। ये वस्तुएँ उसके जाने बिना, किंतु इस कारण कम बल के साथ नहीं, उसे ढालती है और हमें वही से आरंभ करना चाहिये। मन को ऐसे बिम्बों और ऐसे जीवन के विचारों से नहीं घेर देना चाहिये जो उस जीवन के विरोधी घेर देना चाहिये जो उस जीवन के विरोधी हो, जिनमें उसे हिलना डुलना है। यदि बाहर से कोई वस्तु लानी है तो मन पर जोर से आरोपित न की जाय, उसे भेट

की जा सकती है। सच्चे विकास के लिए एक आवश्यक शर्त है – स्वाभाविक और मुक्त वृद्धि। कृत्रिम रूपों में ढाले जाने पर अधिकतर लोग क्षीण, रिक्त और बनावटी बन जाते हैं।

३. सर्वांगीण शिक्षा

श्री अरविन्द के अनुसार भारत के पास आत्मा का ज्ञान था किंतु उसने भौतिक तत्व की उपेक्षा की और उसके कारण कष्ट भोगा।

पश्चिम के पास भौतिक तत्व का ज्ञान है, पर उसने आत्मा को अस्वीकार किया और इस कारण बुरी तरह कष्ट पाता है।

श्री अरविन्द के अनुसार सर्वांगीण शिक्षा को, जो कुछ थोड़े से परिवर्तनों के साथ संसार के सभी देशों में अपनायी जा सके, पूर्णतया विकसित और उपयोग में लाये हुए “भौतिक तत्व” पर आत्मा के वैध अधिकार को वापस लाना होगा।

श्री अरविन्द का मानना था कि शिक्षा के पूर्ण होने के लिये, उसमें पाँच प्रधान पहलू होने चाहिये। इनका संबंध मनुष्य की पाँच प्रधान क्रियाओं से होगा – भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक। साधारणतया शिक्षा के ये सब पहलू व्यक्ति के विकास के अनुसार एक के बाद एक करके कालक्रम से आरंभ होते हैं, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक पहलू दूसरे का स्थान ले ले, अपितु सभी पहलूओं को जीवन के अन्तकाल तक परस्पर एक दूसरे को पूर्ण बनाते हुए जारी रखना चाहिए।

श्री अरविन्द द्वारा बताये गये शिक्षा के पाँच पहलुओं पर निम्नानुसार विचार किया गया है।

(1) शारीरिक शिक्षा

शरीर की शिक्षा के तीन प्रधान रूप हैं

- शारीरिक क्रियाओं को संयमित और नियमित करना।
- शरीर के सभी अंगों और क्रियाओं का सर्वांगपूर्ण, प्रणालीबद्ध और सुसामंजसपूर्ण विकास करना।
- यदि शरीर में कोई दोष और विकृति हो तो उसे सुधारना।

जीवन के आरंभिक दिनों में ही बच्चों को भोजन, नींद, मलत्याग आदि के विषय में पहले प्रकार की शिक्षा देनी चाहिये। यदि बच्चा अपने जीवन के एकदम प्रारंभ से ही अच्छी आदतें डाल लें तो वह जीवनभर बहुत से कष्टों और असुविधाओं से बचा रहेगा।

जैसे जैसे बच्चा बड़ा हो वैसे – वैसे उससे अपने अंग-प्रत्यंगों की क्रियाओं को देखने का अभ्यास कराना चाहिये, जिससे वह उन्हें अधिकाधिक नियमित कर सके, इस बात का ध्यान रख सके कि उसकी क्रियाएँ स्वाभाविक हों। बच्चों में बुरी आदतें बहुत कम आयु में ही बन जाती हैं जो कि सारे जीवन के लिए बड़े खतरनाक परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं, इसलिए छोटी आयु

से ही बच्चो को शारीरिक स्वास्थ्य, शक्ति सामर्थ्य और संतुलन का आदर करना सिखाना चाहिए।

(2) प्राण की रक्षा

प्राण की रक्षा के दो प्रधान रूप हैं। वे दोनों ही लक्ष्य और पद्धति की दृष्टि से एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, पर हैं दोनों ही एक समान महत्वपूर्ण। पहला इन्द्रियों के विकास और उनके उपयोग से संबंध रखता है और दूसरा है अपने चरित्र के विषय में सचेतन होना और धीरे धीरे उस पर प्रभुत्व स्थापित कर अंत में उसका रूपान्तर साधित करना।

इन्द्रियों की शिक्षा के साथ ही यथाशीघ्र विवेक और सौंदर्य बोज के विकास की शिक्षा भी देनी होगी। अर्थात् जो कुछ सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण है, सरल, स्वस्थ और शुद्ध है, उसे चुन लेने और ग्रहण करने की क्षमता—क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्य के समान ही मानसिक स्वास्थ्य भी होता है। जिस तरह शरीर और उसकी गतियों का एक सौन्दर्य है, उसी तरह इन्द्रियानुभवों का भी एक सौन्दर्य और सामंजस्य है। जैसे—जैसे बच्चे की सामर्थ्य और समझ बढ़े वैसे वैसे उसे अध्ययनकाल में ही यह सिखाना चाहिये कि वह शक्ति और यथार्थता के साथ—साथ सौन्दर्य विषयक सुरुचि और सूक्ष्म वृत्तिका भी विकास करे। उसे सुन्दर उच्च, स्वस्थ और महान वस्तुएँ, चाहे वे प्रकृति में हो या मानव—सृष्टि में, दिखानी होगी, उन्हें पसंद करना और उनसे प्रेम करना सिखाना होगा। वह एक सच्चा सौन्दर्यानुशीलन होना चाहिये, जो पतनकारी प्रभावों से उसकी रक्षा करेगा।

प्रत्येक बालक बालिका को अपने अंदर की क्रियाओं के विषय में सचेतन होना सिखाया जाना आवश्यक है। जिससे वे यह सीख सकें कि हम क्या करते हैं और क्यों करते हैं ?

बच्चे को सिखाना चाहिए कि वह आत्म निरीक्षण करे अपनी प्रति क्रियाओं तथा आवेगों और उनके कारणों को समझे, अपनी वासनाओं का उग्रता और उतेजना की अपनी क्रियाओं का अधिकार जमाने, अपने उपयोग में लाने और शासन करने की सहज प्रेरणा का तथा मिथ्याभिमान रूपी आधार भूमि का जिस पर ये चेष्टाएँ अपनी परिपूरक दुर्बलता अनुत्साह, अवसाद और निराशा के साथ स्थित होती हैं — स्पष्टदर्शी साक्षी बने। बच्चे द्वारा की गई क्रियाएँ तभी लाभदायक होंगी जब निरीक्षण करने की शक्ति बढ़ने के साथ साथ प्रगति करने और पूर्णता पाने का संकल्प भी बढ़ता जाय। ज्यों ही बच्चा इस संकल्प को धारण करने की योग्यता प्राप्त कर ले त्यों ही, बहुत कम आयु में ही यह उसके अंदर भर देना चाहिये।

सार रूप में कहा जा सकता है कि हमें अपने स्वभाव का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और फिर अपनी क्रियाओं पर ऐसा संयम प्राप्त करना चाहिये कि हमें पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाय और जिन चीजों को रूपान्तरित करना है उनका रूपान्तर साधित हो जाय।

(3) मन की शिक्षा

श्री अरविन्द के अनुसार मन एक मानसिक यंत्र है जिसमें अनेक संभावनाएँ हैं, अनेक क्षमताएँ हैं, किंतु ये छिपी हुई हैं, इन्हे विशिष्ट शिक्षण की विशिष्ट रूप से साधने की आवश्यकता है, जिससे ये ज्योति को व्यक्त कर सकें। यह निश्चित है कि साधारण जीवन में दिमाग मानसिक चेतना की बाह्य अभिव्यंजना का आसन है, तो यदि दिमाग विकसित न हो, यदि यह अनगढ़ रहे तो ऐसी असंख्य वस्तुएँ हैं जो व्यक्त नहीं की जा सकेंगी क्योंकि अपने आपको व्यक्त करने के लिये उनके पास आवश्यक यन्त्र नहीं होगा। श्री अरविन्द के अनुसार मानसिक शिक्षा, बौद्धिक शिक्षा मस्तिष्क की बनावट को बदल देती है, पर्याप्त हद तक बढ़ा देती है और परिणामस्वरूप अभिव्यंजना अधिक समृद्ध और यथार्थ हो उठती है।

(4) आन्तरात्मिक शिक्षा

श्री अरविन्द के अनुसार अन्तरात्मा की शिक्षा के द्वारा हम जीवन के सच्चे आशय, पृथ्वी पर अपने अस्तित्व के कारण तथा जीवन की खोज के लक्ष्य और उसके परिणाम – अपनी नित्य सत्ताके प्रति व्यक्ति के आत्मसमर्पण के प्रश्न आते हैं। यदि हम आन्तरात्मिक शिक्षा की एक सामान्य रूपरेखा बनाना चाहे तो अन्तरात्मा से हमारा अभिप्राय क्या है, इस विषय में हमें कुछ विचार अवश्य बना लेना चाहिये, चाहे वह विचार कितना ही सापेक्ष क्यों न हो। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति की रचना उन असंख्य संभावनाओं में से किसी एक के देश और काल में प्रक्षेपण के द्वारा होती है जो समस्त अभिव्यक्ति के सर्वोच्च उद्गम में गुप्त रूप से विद्यमान है। यह उद्गम एकमेव विश्वव्यापी चेतना के द्वारा व्यक्ति के नियम या सत्ये में मूर्तरूप धारण कर लेता है और इस प्रकार उत्तरोत्तर विकास करते हुए उसकी आत्मा या चैत्य पुरुष (अन्तरात्मा) बन जाता है।

(5) आध्यात्मिक शिक्षा :

आध्यात्मिक चेतना का अर्थ है नित्य और अनन्त में निवास करना तथा देश-काल से, सृष्टिमात्र से बाहर स्थित हो जाना। अपनी अन्तरात्मा को पूर्णरूप से जानने और आन्तरात्मिक जीवन बिताने के लिये मनुष्य को समस्त स्वार्थपरता का त्याग करना होगा, किंतु आध्यात्मिक जीवन के लिये अहंमात्र से मुक्त हो जाना होगा।

आध्यात्मिक शिक्षा में यहाँ भी मनुष्य का स्वीकृत लक्ष्य, उसके वातावरण, विकास तथा स्वभाव की रुचियों के संबंध में, मानसिक निरूपण में भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेगा। जिस से उच्च सत्ता की मनुष्य कल्पना कर सकता है, उसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण के आनन्द से अधिक पूर्ण आनन्द और नहीं है, कुछ इसे ईश्वर का नाम देते हैं और कुछ पूर्णता का।

(6) नैतिक शिक्षा

किसी भी आदर्श शिक्षा प्रणाली में नैतिक शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। यह नैतिक शिक्षा केवल उपदेश और अध्ययन से संभव नहीं है, क्योंकि ये सब तो कुत्रिम और यन्त्रवत् साधन हैं। मनुष्य की नैतिक प्रकृति में भाव, संस्कार और स्वभाव सम्मिलित हैं। नैतिक विकास के लिये इन

सबका रूपान्तर आवश्यक है। प्राचीन भारतीय शिक्षा—प्रणाली में गुरु शिक्षार्थी के सम्मुख एक आदर्श था, जिससे उसके चरित्र के अनुकरण से ही उसे नैतिक शिक्षा प्राप्त हो जाती थी। आधुनिक युग में उन प्राचीन परिस्थितियों को वापस नहीं लाया जा सकता, परंतु ऐसी शिक्षा प्रणाली की स्थापना अवश्य की जा सकती है, जिसमें शिक्षक वर्ग वैतनिक प्रशिक्षक न होकर मित्र, निर्देशक और सहायक हो। नैतिक शिक्षा उपदेश से नहीं, अपितु संकेत से दी जा सकती है। विद्यार्थियों के समक्ष महापुरुषों के आदर्श उपस्थित किये जा सकते हैं। इसके लिये सबसे आवश्यक यह है कि शिक्षक स्वयं उच्च नैतिक आदर्श उपस्थित करें।

(7) धार्मिक शिक्षा

श्री अरविन्द के अनुसार नैतिक शिक्षा के साथ साथ धार्मिक शिक्षा भी आवश्यक है। यह धार्मिक शिक्षा विभिन्न धर्मों के अध्ययन मात्र से नहीं हो सकती, जब तक की धार्मिक उपदेशों के अनुसार आचरण न किया जाय। शिक्षा की राष्ट्रीय व्यवस्था में धार्मिक शिक्षा को स्थान दिया जाना चाहिये, और फिर इस संबंध में धर्म के मूल तत्वों को लेकर पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जानी चाहिये।

(8) शिक्षा का माध्यम

श्री अरविन्द मातृभाषा को ही बालक की शिक्षा का उपयुक्त माध्यम मानते हैं। मातृभाषा के माध्यम से बालक अपने देश की संस्कृति, साहित्य और इतिहास का परिचय प्राप्त करता है और उसे अपने चारों ओर के जीवन को समझने में सहायता मिलती है। मातृभाषा पर अधिकार होने के बाद ही विदेशी भाषाएँ सिखानी चाहिये।

आज भारत में शिक्षा के क्षेत्र में विचारको और शिक्षको के सामने जब अनेक समस्याएँ भयंकर रूप से उपस्थित हैं, तो इन समस्याओं के मूल कारणों को खोजने में श्री अरविन्द के शिक्षा दर्शन से सहायता ली जा सकती है, क्योंकि अन्य क्षेत्रों के समान शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने व्यापकता और गहराई – दोनों ही दृष्टि से सत्यों की खोज की है। इसीलिये उनका शिक्षा दर्शन केवल समकालीन भारतीय शिक्षा दर्शन में ही नहीं, परंतु विश्व के शिक्षा दर्शन में भी विशिष्ट स्थान रखता है।

संदर्भ सूची

1. ओड़, लक्ष्मीलाल के. (2007). शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर.
2. सक्सेना, सरोज (2000). शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार, साहित्य प्रकाशन, आगरा.
3. सरिन, शशिकला एवं सरिन, अंजनी (2007). शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा.
4. शर्मा, डी. एल. (1998). शिक्षा तथा भारतीय समाज, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ.

5. Aurobindo, S. (1990). On Education, Reprint, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry. P-15.
6. Best, John W. & Kahn. James V. (2001), Research in Education, Prentice Hall of India, New Delhi.
7. Raina, M.K. (2000). Sri Aurobindo, Prospects : the quarterly review of comparative education.
8. White, Sephen R. (2007). Aurobindo's Thought and Holistic Global Education, Journal of thought.